श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी० दिल्ली

जैनदर्शन

'जैन' शब्द का अर्थ है जिन के अनुयायी और 'जिन' शब्द का अर्थ है जिसने राग द्वेष को जीत लिया है. उसे अर्हत् अर्थात् पूजनीय भी कहा जाता है. इसी आधार पर जैनधर्म का दूसरा नाम आर्हद्धर्म है. जैनसाधु परिग्रह या संपत्ति नहीं रखते. उनके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जिसे गांठ बांधकर रखा जाय. इसलिये वे निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं और उनका धर्म निर्ग्रंथ धर्म. ईस्वीपूर्व छठी शताब्दी में भारतीय संस्कृति की दो मुख्य धाराएँ थीं. एक ओर यज्ञ तथा भौतिक सुखों पर बल देने वाली ब्राह्मण परंपरा और दूसरी ओर निवृत्तितथा मोक्ष पर बल देनेवाली श्रमण परंपरा. जैनधर्म श्रमणपरंपरा की एक प्रधान शाखा है.

जैनधर्म न विकासवादी है और न ह्रासवादी. जगत्कर्त्ता के रूप में किसी अतीन्द्रिय सत्ता को नहीं मानता. विश्व परिवर्त्तनशील है. उसकी उपमा एक चक्र से दी जाती है जिसमें उन्नति और अवनति, उत्थान और पतन का क्रम निरन्तर चलता रहता है. इस क्रम को बारह आरों में विभक्त किया गया है. उत्थान को उत्सर्पिणी काल और पतन को अवसर्पिणी काल कहा जाता है. प्रत्येक में छह आरे हैं. प्रत्येक काल के मध्य में धर्म की स्थापना होती है.

प्रस्तुत काल अवसर्पिणी है. इसमें सभी बातें हीयमान हैं. इसके मध्य में अर्थात् तृतीय आरे के अंत मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुये. वे ही जैनधर्म की वर्तमान परंपरा के संस्थापक माने जाते हैं. उनका वर्णन भागवत तथा वैदिक साहित्य में भी आया है. ज्ञात होता है वे सर्वमान्य महापुरुष रहे होंगे. उनके समय के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ नहीं कहा जा सकता.

ऋषभदेव के पश्चात् २३ तीर्थंकर हुये. बाईसवें नेमिनाथ भगवान् कृष्ण के चचेरे भाई थे. छांदोग्य उपनिषद् में उनका निर्देश घोर अंगिरस के रूप में आया है. तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ईस्वीपूर्व ८५० में हुये. वे वाराणसी के राजकुमार थे. अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ईस्वीपूर्व ६०० में हुये. वर्तमान जैनधर्म उन्हीं की देन है.

महावीर के पश्चात् एक हजार वर्ष का समय आगमयुग कहा जाता है. उस समय श्रद्धाप्रधान आगम ग्रन्थों की रचना हुई. दार्शनिक दृष्टि से उनका इतना महत्त्व है कि यत्र-तत्र विभिन्न मान्यताएँ मिलती हैं, किन्तु प्रतिपादनशैली दार्शनिक नहीं है.

दर्शनयुग का प्रारम्भ ईसा की ५वीं शताब्दी में हुआ. महावीर के कुछ समय पश्चात् जैनधर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय हो गये. दोनों ने दार्शनिक साहित्य का विकास किया.

जहां तक जैन मान्यताओं का प्रश्न है उनका संग्रह करने वाला प्रथम सूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र है. इसे मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है. यह उमास्वाति या उमास्वामी (तृतीय शताब्दी) की रचना है. इस पर उनका स्वोपज्ञ भाष्य, पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनगणी का भाष्य, अकलंक की राजवार्तिक, विद्यानंद की श्लोकवार्तिक तथा श्रुतसागर की आत्मख्याति नामक टीकाएं हैं. ये रचनायें आगम साहित्य में सम्मिलित की जाती हैं.

कुंदकुंद ने प्रवचनसार. समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि अनेक ग्रंथों की रचना की. उनमें खण्डन-मण्डन न होने पर भी आत्मा, ज्ञान आदि विषयों का सूक्ष्म विवेचन है. दिगम्बर परम्परा में उन्हें आगम माना जाता है. दार्शनिक दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम नहीं है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनयुग का प्रारम्भ ५वीं शताब्दी में माना जाता है. इसी समय सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्र, मल्लीवादी और पात्रकेसरी नामक आचार्य हुए. सिद्धसेन श्वेताम्बर थे और समंतभद्र दिगम्बर. दोनों ने जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद की स्थापना की. भगवान् महावीर ने नयवाद का प्रतिपादन किया था. सिद्धसेन ने उसे आधार बनाकर सन्मतितर्क की रचना की जो अनेकान्तवाद पर प्रथम ग्रंथ माना जाता है. उनकी दूसरी रचना न्यायावतार जैनतर्कशास्त्र का प्रथम ग्रंथ है. सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिकायें भी रचीं. उनमें से २२ उपलब्ध हैं. इनमें स्तोत्र के रूप में दार्शनिक चर्चा की गई है. समंतभद्र की दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली ३ रचनाएँ हैं—

(१) आप्तमीमांसा में उन्होंने यह चर्चा की है कि आप्त अर्थात् विश्वास एवं पूजा के योग्य महापुरुष वही हो सकता है जो राग द्वेषादि से परे हो तथा जिसकी वाणी में पूर्वापर विरोध न हो. इस कसौटी पर बुद्ध, कपिल, कणाद आदि नहीं उतरते. अतः उन्हें आप्त नहीं कहा जा सकता. साथ ही नित्यानित्य, भेदाभेद, सामान्य-विशेष, गुण और गुणी का परस्पर सम्बन्ध आदि विषयों को लेकर प्रचलित एकान्त दृष्टियों का खण्डन और अनेकान्त का प्रतिपादन किया है. इस पर अकलंक की अष्टशती और विद्यानन्द की अष्टसहस्त्री नामक टीकाएँ हैं. उनका दार्शनिक साहित्य में मूर्धन्य स्थान है. समंतभद्र के अन्य ग्रन्थ. (२) युक्त्यनुशासन और (३) स्वयंभूस्तोत्र हैं. सभी में उनकी प्रौढ़ तार्किकता का परिचय मिलता है. मल्लिवादी ने नयचक्रम् तथा वादन्याय की रचना की. उनका अथन है कि विभिन्न मत चक्र में आरों के समान हैं. सभी एक-दूसरे का खण्डन करते रहते हैं. किन्तु निष्कर्ष पर कोई नहीं पहुँचता. सम्पूर्ण सत्य चक्र के समान है और समस्त मत उसके घटक हैं. अपने आप में अर्थात् निरपेक्ष होने पर मिथ्या हैं और सापेक्ष होने पर सत्य के अंग बन जाते हैं. क्षमाश्रमण (७वीं शताब्दी) ने नयचक्र पर बृहद् टीका लिखी है. पात्रकेसरी या पात्र स्वामी ने 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक ग्रंथ रचा. इसमें बौद्धों द्वारा प्रतिपादित हेतु के स्वरूप का खण्डन है.

अकलंक (८०० ईसवी) ने दिग्नाग, धर्मकीर्ति, आदि बौद्ध आचार्यों का खंडन करते हुए जैनदृष्टि से प्रमाणव्यवस्था का प्रतिपादन किया. उनके मुख्य ग्रंथ हैं—अष्टशती, प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय तथा सिद्धिविनिश्चय. इसी समय श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र सूरि हुए. उन्होंने बहुसंख्यक ग्रन्थों की रचना की. दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं—अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय तथा लोकतत्त्व निर्णय. उनके षोडशक और अष्टकों में भी दार्शनिक चर्चाएँ हैं. योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु तथा योगविंशिका योगविषयक ग्रंथ हैं. धर्मसंग्रहणी प्राकृत में है. हरिभद्र ने दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर टीका लिखकर अपनी उदारदृष्टि का परिचय दिया है. अकलंक के भाष्यकार विद्यानन्द हुए. अष्टसहस्री के अतिरिक्त उनके मुख्य ग्रंथ हैं—प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, तथा श्लोकवार्तिक आदि. इस समय अनंतकीर्तिने लघुसर्वज्ञसिद्धि, बृहत्सर्वज्ञसिद्धि तथा जीवसिद्धि और अनन्तवीर्य ने उस पर सिद्धिविनिश्चय टीका रची.

माणिक्यनंदी (१०वीं शताब्दी) का परीक्षामुख जैन तर्कशास्त्र का प्रथम सूत्र ग्रंथ है. इसी समय सिद्धर्षि ने सिद्धसेन कृत न्यायावतार पर टीका रची. अभयदेव (१०५४) की सन्मतितर्क पर 'वादमहार्णव' नामक विशाल टीका भी इसी समय की है. प्रभाचन्द्र (१०३७ से ११२२) ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुन्दचन्द्र नामक टीकायें रचीं. वादिराज ने न्यायावतार पर न्यायविनिश्चयविवरण और जिनेश्वर (११ वीं शताब्दी) ने न्यायावतार पर प्रमाणलक्ष्य नामक वार्तिक तथा उन पर टीका रची. अनन्तवीर्य (१२ वीं शताब्दी) की परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला नामक संक्षिप्त टीका है. वादी देवसूरि (११४३-१२२६) ने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्र ग्रंथ और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक विशाल टीका लिखी. कहा जाता है कि इसकी श्लोक संख्या ८४००० थी, किन्तु संपूर्ण उपलब्ध नहीं है. वादी देव श्वेताम्बर थे. उनकी रचनाएँ परीक्षामुख और प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रतिक्रिया हैं. उन्होंने स्त्रीमुक्ति और केवली के आहार को लेकर विस्तृत चर्चा की है. कहा जाता है इन विषयोंको लेकर कुमुन्दचन्द्र और वादी देवसूरि में शास्त्रार्थ हुआ था. प्रमाणनयतत्त्वालोक पर वादी देव के शिष्य रत्नप्रभ ने रत्नाकरावतारिका टीका लिखी. इसी समय हेमचन्द्राचार्य (११४५ से १२२९) हुए. उन्होंने स्वोपज्ञ टीका के साथ प्रमाणमीमांसा नामक सूत्र ग्रंथ तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो द्वात्रिंशिकायें रचीं. इनकी 'अन्ययोग-व्यवच्छेदिका' नामक द्वात्रिंशिका पर मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी नामक टीका है. १२ वीं शताब्दी में ही शांत्याचार्य ने न्यायावतार पर स्वोपज्ञ टीका के साथ न्यायवार्तिक की रचना की. गुणरत्न (१५ वीं शताब्दी) की षड्दर्शनसमुच्चय पर टीका दार्शनिक साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है. भट्टारक धर्मभूषण (१५ वीं शताब्दी) की न्यायदीपिका जैनन्याय का प्रारम्भिक ग्रंथ है.

सत्रहवीं शताब्दी में यशोविजय नामक प्रतिभाशाली आचार्य हुए. उन्होंने जैनदर्शन में नव्य न्याय का प्रवेश किया. उनके मुख्य ग्रंथ है—अनेकांतव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, ज्ञानबिन्दु, नयप्रदीप, नयरहस्य और नयामृततरंगिणी, सटीक नयोपदेश. न्यायखंडखाद्य तथा न्यायालोक में नव्य न्याय शैली में नैयायिकादि दर्शनों का खंडन है. अष्टसहस्री पर विवरण तथा हरिभद्रकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय पर स्याद्वादकल्पलता नामक टीकाएं हैं. भाषारहस्य, प्रमाणरहस्य, वादरहस्य नामक ग्रन्थों में नव्यन्याय के ढंग पर जैन तत्वों का प्रतिपादन है. उन्होंने योग तथा अन्य विषयों पर भी ग्रंथ रचे. इसी युग में विमलदास गणी ने 'सप्तभंगीतरंगिणी' नामक ग्रंथ नव्यन्याय शैली पर रचा.

ज्ञानमीमांसा

वेदान्त में आत्मा को सत् चित् और आनंद स्वरूप माना गया है. इसी प्रकार जैनदर्शन में उसे अनंत चतुष्टयरूप माना गया है. वे हैं अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य. प्रथम दो—ज्ञान एवं दर्शन चेतना ही के दो रूप हैं. प्रत्येक आत्मा अपने आप में सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है. उसके ये गुण बाह्य आवरण के कारण छिपे हुए हैं.

ज्ञान का स्वरूप :—जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान प्रकाश के समान है अर्थात् वह अपने आप में विद्यमान वस्तु को प्रकाशित करता है. नई रचना या अपनी ओर से उसमें कोई सम्मिश्रण नहीं करता. यहाँ एक प्रश्न होता है किसी व्यक्ति को देखकर हमें यह प्रत्यक्ष होता है कि वह हमारा शत्रु है. क्या शत्रुत्व उस व्यक्ति में है ? यदि ऐसा है तो वह दूसरों को भी शत्रु के रूप में क्यों नहीं दिखाई देता ? उत्तर में जैनदर्शन का कथन है कि व्यक्ति या वस्तु में प्रतीत होने वाले सभी धर्म सापेक्ष होते हैं. एक ही वस्तु एक व्यक्ति को छोटी दिखाई देती है और दूसरे को बड़ी. दोनों की अपनी-अपनी अपेक्षाएं होती हैं और उस दृष्टि से दोनों सच्चे हैं. इसी प्रकार वही व्यक्ति एक को शत्रु दिखाई देता है और दूसरे को मित्र. दोनों का यह ज्ञान अपनी-अपनी अपेक्षा को लिए हुए है. यदि मित्रता का दर्शन करने वाला व्यक्ति शत्रुतादर्शन करने वाले की अपेक्षा को दृष्टि में रख कर विचार करे तो उसे भी शत्रुता का ही दर्शन होगा. एक ही स्त्री एक व्यक्ति की दृष्टि में माता है, दूसरे की दृष्टि में बहिन, तीसरे की दृष्टि में पत्नी, चौथे की दृष्टि में पुत्री. इनमें से कोई भी दृष्टि मिथ्या नहीं है. मिथ्यापन तभी आयगा जब अपेक्षा बदल जाये. सभी ज्ञान आंशिक सत्य को लिए रहते हैं और यदि उन्हें आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो सभी सच्चे हैं. वे ही जब पूर्ण सत्य मान लिये जाते हैं और दूसरी दृष्टि या अपेक्षा का निराकरण करने लगते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं. जैनदर्शन के अनुसार पूर्ण सत्य का साक्षात्कार सर्वज्ञ को ही हो सकता है और उसी का ज्ञान पूर्ण सत्य कहा जा सकता है.

ज्ञान के भेद

ज्ञान के ५ भेद हैं. (१) **मति**—इंद्रिय और मन से होने वाला ज्ञान. (२) **श्रुत**—शास्त्रों से होने वाला ज्ञान. (३) **अवधि**—दूरवर्त्ती तथा व्यवधान वाले पदार्थों का ज्ञान, जो विशिष्ट योगियों को होता है. इसके द्वारा योगी केवल रूप वाले पदार्थों को ही देख सकता है. (४) **मनःपर्यय**—दूसरे के मनोभावों का प्रयत्क्ष. (५) **केवलज्ञान**—सर्वज्ञों का ज्ञान, जिसके द्वारा वे विश्व के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं.

प्राचीन परंपरा में इनमें से प्रथम दो को परोक्ष माना गया और अंतिम तीन को प्रत्यक्ष. कालांतर में अन्यदर्शनों के समान इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष में सम्मिलित कर लिया गया. अकलंक ने इस बात को लक्ष्य में रखकर प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये. सांव्यवहारिक और पारमार्थिक. इन्द्रिय तथा मन से होने वाले प्रत्यक्ष को प्रथम कोटि में ले लिया और अवधि आदि तीन ज्ञानों को द्वितीय कोटि में.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा कमरे में बैठे हुए व्यक्ति के समान है और मन तथा इन्द्रियाँ खिड़की के समान. उनका काम इतना ही है कि थोड़ी देर के लिए ज्ञाता और ज्ञेय के बीच पड़े हुए आवरण या पर्दे को हटा दें. जानने का काम आत्मा स्वयं करता है. इसी दृष्टि को सामने रखकर प्राचीन आगमों में प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद नहीं किया गया. सर्वप्रथम यह भेद उमास्वाति ने किया. उसका आधार था कि जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन या शब्द आदि की सहायता होती है वह परोक्ष है और जहाँ उस सहायता की आवश्यकता नहीं है वह प्रत्यक्ष है. अन्य दर्शनों के साथ संपर्क होने पर इन्द्रियज्ञान को भी साधारण व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष मान लिया गया.

प्रत्यक्ष का क्रम

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो एकदम अंतिम निर्णय पर नहीं पहुंचते. पहले सामान्य ज्ञान होता है, धीरे धीरे विशेषता की ओर बढ़ते हैं. जब किसी दूर की वस्तु को देखते हैं तो यह क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु परिचित एवं निकटस्थ वस्तु का ज्ञान शीघ्र हो जाता है. स्पष्टतया मालूम न पड़ने पर भी वहां इस क्रम का अभाव नहीं होता. जैनदर्शन में इस क्रम की पांच अवस्थाएं बताई गई हैं.

(१) **दर्शन**—सामान्यज्ञान, जहां केवल इतना ही भान होता है कि कुछ है.

(२) **अवग्रह**—इन्द्रिय के द्वारा वस्तु का ग्रहण. इसकी भी दो अवस्थाएं हैं. १ व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह. व्यंजनावग्रह का अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध. यह केवल चार इन्द्रियों में होता है. मन और चक्षुरिन्द्रिय से होने वाले ज्ञान में नहीं होता. दूसरा अर्थावग्रह है—इसका अर्थ है वस्तु का प्रतिभास.

(३) **ईहा**—विशेष जानने की इच्छा.

(४) **अवाय**—विशेष का निश्चय.

(५) **धारणा**—ज्ञान का संस्कार के रूप में परिणत होना, जिससे कालान्तर में स्मरण हो सके.

इन अवस्थाओं में प्रथम दर्शन निराकार होने के कारण ज्ञान कोटि में नहीं आता. शेष चार मतिज्ञान की अवस्थाएं हैं.

परोक्ष के भेद

परोक्ष का निरूपण मुख्यतया तर्कयुग की देन है. इसके ५ भेद हैं.

(१) **स्मृति**—पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण. न्यायदर्शन इसे प्रमाण कोटि में नहीं रखता.

(२) **प्रत्यभिज्ञान**—इसका शब्दार्थ है पहिचान. पूर्वानुभूत वस्तु को पुनः देखने पर हमें यह ज्ञान होता है कि यह वही है, इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं. कभी तत्सदृश दूसरी वस्तु को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह उसके सदृश है. भिन्न वस्तु को देख कर यह ज्ञान होता है कि यह उससे भिन्न है. इस प्रकार पूर्वानुभूत और प्रत्यक्ष तुलना का संकलन करने वाले सभी ज्ञान प्रत्यभिज्ञान हैं. वैदिक दर्शनों में इसका प्रतिपादन उपमान के रूप में किया गया है.

(३) **तर्क**—धुआँ अग्नि का कार्य है और अग्नि धुएं का कारण. कार्य, कारण के विना नहीं होता. इसी प्रकार जहां आम होगा वहां वृक्ष अवश्य होगा, क्योंकि आम वृक्ष की अवांतर जाति अर्थात् व्याप्य है. इस प्रकार कार्य-कारण भाव, व्याप्य-व्यापकभाव आदि सम्बन्धों के आधार पर यह निश्चय करना कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के होने पर ही हो सकती हैं, तर्क है. इसे व्याप्तिज्ञान भी कहा जाता है.

(४) **अनुमान**—तर्क के आधार पर स्थान विशेष में एक वस्तु को देखकर दूसरी वस्तु की सत्ता या अभाव सिद्ध करना अनुमान है. इसका निरूपण न्यायदर्शन में किया गया है. यहां इतना ही बता देना पर्याप्त है कि जैनदर्शन हेतु और साध्य के परस्पर सम्बन्ध के लिये इतना ही आवश्यक मानता है कि साध्य के विना हेतु नहीं रहना चाहिए. बौद्धों के समान उसे कार्य तथा स्वभाव तक सीमित नहीं करता. उदाहरण के रूप में जैनदर्शन का कथन है कि जिस प्रकार कार्य से कारण का अनुमान किया जा सकता है उसी प्रकार कारण से कार्य का भी अनुमान किया जा सकता है. हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आग देख कर यह अनुमान कर सकते हैं कि वहां उष्णता होगी. इतना ही नहीं, आज रविवार है तो यह अनुमान किया जा सकता है कि दूसरे दिन सोमवार होगा. क्योंकि सोमवार रविवार का उत्तरचर है. इस प्रकार हेतु के पूर्वचर सहचर आदि अनेक रूप हो सकते हैं.

(५) **आगम**—आप्त अर्थात् विश्वसनीय पुरुष के वचन को आगम कहा जाता है. इसके दो भेद हैं. माता,पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हैं. इस सम्बन्ध में दर्शनकारों का मतभेद नहीं है. किन्तु अलौकिक आप्त के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं. मीमांसादर्शन का कथन है कि शब्द में दोष तभी आता है जब उसके वक्ता में कोई दोष हो. वेद अनादि हैं, उनका कोई वक्ता नहीं है अतः वे दोषरहित हैं. न्याय तथा वेदान्त का कथन है कि वक्ता में दो गुण होने चाहिए. वह निर्दोष हो और साथ ही अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता हो. उनके मत में वेद ईश्वर के बनाये हुये हैं. उसमें कोई दोष नहीं है. साथ ही उसका ज्ञान परिपूर्ण है. जैनदर्शन ईश्वर को नहीं मानता. उसकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति साधना द्वारा आत्मा का पूर्ण विकास कर सकता है. उस अवस्था में वह वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है. आगम उसकी वाणी है, अतः प्रमाण है.

जैन परम्परा की मान्यता है कि सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी तीर्थंकर उपदेश देते हैं. उनकी ग्रंथ के रूप में रचना गणधरों अर्थात् मुख्य शिष्यों द्वारा की जाती है. उनके पश्चात् ज्ञानसम्पन्न अन्य मुनियों द्वारा रचे गये ग्रंथ भी आगमों में सम्मिलित कर लिये गये. श्वेताम्बर मतानुसार यह क्रम भगवान् महावीर के पश्चात् १००० वर्ष अर्थात् चौथी ईस्वी तक चलता रहा. वे अपने आगमों को बारह अंग, बारह उपांग, छह मूल, छह छेद तथा दस प्रकीर्णकों में विभक्त करते हैं. इनमें से दृष्टिवाद का लोप हो गया. शेष ४५ आगम विद्यमान हैं.

दिगम्बरों का मत है कि अंग उपांगादि सभी आगम लुप्त हो गये. वे षट्खंडागम और कषायप्राभृत को मूल आगम के रूप में मानते हैं. ये ग्रंथ महावीर के ४०० वर्ष पश्चात् रचे गये. इनके अतिरिक्त कुंदकुंद, उमास्वामी, नेमिचंद सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यों की रचना को भी आगमों के समान प्रमाण माना जाता है.

जैनदर्शन में ज्ञान के जो भेद किये गये हैं, उन्हीं को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है. और यह बताया गया है कि ज्ञान वस्तु के समान अपने आप को भी ग्रहण करता है. अर्थात् एक ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती.

सात नय

व्यक्ति अपने विचारों को प्रकट करते समय निजी मान्यताओं को सामने रखता है. एक ही स्त्री को एक व्यक्ति माता कहता है, दूसरा बहिन, तीसरा पुत्री और चौथा पत्नी. इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में भी एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट किया जाता है. एक ही व्यक्ति परिवार की गणना करते समय राम या कृष्ण के रूप में कहा जाता है. जातियों की गणना के समय ब्राह्मण या क्षत्रिय, व्यवसाय की गणना के समय अध्यापक या व्यापारी. इस प्रकार अनेक अभिव्यक्ति की दृष्टियां हैं. उन सब को नय कहा जाता है. जैनदर्शन में उनका स्थूल विभाजन ७ नयों के रूप में किया गया है. इनमें मुख्य दृष्टि विस्तार से संक्षेप की ओर है अर्थात् एक ही शब्द किस प्रकार विस्तृत अर्थ का प्रतिपादन होने पर भी उत्तरोत्तर संकुचित होता चला जाता है यह प्रकट किया गया है.

नैगमनय—इसकी व्युत्पत्ति की जाती है 'नैक गमो नैगमः' अर्थात् जहां अनेक प्रकार की दृष्टियां हों. यह नय वास्तविकता के साथ उपचार को भी ग्रहण कर लेता है. उदाहरण के रूप में हम तांगेवाले को तांगा कहकर पुकारने लगते हैं. क्रोधी को आग तथा वीर पुरुष को शेर कहने लगते हैं. इस उपचार का आधार कहीं गुण होता है, कहीं सादृश्य और कहीं किसी प्रकार का संबंध. जैसे तांगे और तांगे के मालिक में स्व-स्वामिभाव संबंध है. इस नय का क्षेत्र अधिक विस्तृत है.
संग्रहनय—इस का अर्थ है सामान्यग्राही दृष्टि अर्थात् अधिकाधिक वस्तुओं को सम्मिलित करने की भावना. इसके दो भेद हैं परसंग्रह और अपरसंग्रह. परसंग्रह में सभी पदार्थ आ जाते हैं. इसके द्योतक हैं सत्, ज्ञेय, आदि शब्द. अपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रह का क्षेत्र अपेक्षाकृत न्यूनाधिक होता है. जैसे मनुष्यत्व का क्षेत्र ब्राह्मत्व की अपेक्षा विस्तृत है और जीवत्व की अपेक्षा संकुचित.

व्यवहार नय—साधारण व्यवहार के लिए किया जाने वाला भेद इस नय को प्रकट करता है. जैसे मनुष्य का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियों में विभाजन करना. संग्रह में दृष्टि अभेद की ओर जाती है और यहां भेद की ओर.

ऋजुसूत्रनय—ऋजु अर्थात् वर्तमान अवस्था को लेकर चलने वाला नय. ऋजुसूत्र की दृष्टि में जिस व्यक्ति का मुख्य व्यवसाय अध्यापन है उसे अध्यापक कहा जा सकता है. जिस समय वह सो रहा है या भोजन कर रहा है उस समय भी अध्यापक है.

शब्दनय—ऋजुसूत्र केवल वर्तमानकाल पर दृष्टि रखता है. शब्दनय लिंग, कारक, संख्या आदि का भेद होने पर वस्तु में परस्पर भेद मानता है. उदाहरण के रूप में नगर और पुरी शब्द को लिया जा सकता हे. शब्द नय की दृष्टि से दोनों में परस्पर भेद है.

समभिरूढ़नय—यह नय समानार्थक शब्दों को स्वीकार नहीं करता अर्थात् जहां एक ही अर्थ को प्रकट करने वाले कई शब्द हैं उनके अर्थ में भी भेद मानता है.

एवंभूतनय—इस नय की दृष्टि क्रिया पर रहती है. व्यक्ति विशेष को अध्यापक तभी कहा जायगा जब वह अध्यापन कर रहा है, सोते या भोजन करते समय नहीं. हमारा साधारण व्यवहार ऋजुसूत्र नय को लेकर चलता है. ७ में से प्रथम ३ अर्थनय माने जाते हैं और अंतिम ४ शब्द नय.

नयों का विभाजन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप में भी किया जाता है. द्रव्यार्थिक में मुख्य दृष्टि अभेद की ओर रहती है और पर्यायार्थिक में भेद की ओर. प्रथम चार नय द्रव्यार्थिक माने जाते हैं और अन्तिम ३ पर्यायार्थिक.

चार निक्षेप

निक्षेप शब्द का अर्थ है रखना या विभाजन करना. शब्द का अर्थ करते समय विभाजन की चार दृष्टियां हैं और हमें यह सोचकर चलना पड़ता है कि प्रस्तुत प्रसंग में किस दृष्टि को लिया जा रहा है ?

(१) नाम निक्षेप—हम किसी व्यक्ति का नाम राजा रख लेते हैं. भिखारी होने पर भी वह राजा कहा जाता है और इस कथन को असत्य नहीं माना जाता. यह नाम निक्षेप अर्थात् नाम की दृष्टि से शब्द का प्रयोग है.

(२) स्थापना निक्षेप—हम मंदिर में रखी हुई मूर्ति को भगवान् कहते हैं. शतरंज के मोहरों को हाथी घोड़े कहते हैं. यह सब स्थापना निक्षेप है. अर्थात् वहां उन्हें उस रूप में मान लिया जाता है. नाम निक्षेप में केवल उस नाम से पुकारा जोता है, वैसा व्यवहार नहीं किया जाता. स्थापना निक्षेप में पुकारने के साथ व्यवहार भी होता है. प्रतीकवाद स्थापना निक्षेप का एक रूप है.

(३) द्रव्य निक्षेप—भावी या भूत पर्याय की दृष्टि से किसी वस्तु को उस नाम से पुकारना. जैसे युवराज को राजा कहना या भूतपूर्व अधिकारी को उस पद के नाम से पुकारना.

(४) भावनिक्षेप—गुण या वर्तमान अवस्था के आधार पर वस्तु को उस नाम से पुकारना. जैसे सिंहासन पर बैठे हुए व्यक्ति को राजा कहना या पदाधिकारी को उसके कार्य काल में उस नाम से पुकारना.

तत्त्वमीमांसा

जैनदर्शन विश्व को ६ द्रव्य या ७ तत्त्वों के रूप में विभक्त करता है. प्रथम विभाजन ज्ञेय जगत् को उपस्थित करता है और द्वितीय में मुख्य दृष्टि आचार या आत्मविकास की है. ७ तत्त्वों में प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव द्रव्यरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं और शेष ५ जीव की आध्यात्मिक अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं. उनका निरूपण आचारमीमांसा में किया जायगा. यहां ६ द्रव्यों के रूप में जीव और अजीव तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है.

छह द्रव्य

द्रव्य का लक्षण है वह पदार्थ जिसमें गुण और पर्याय विद्यमान हों. जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण होते हैं और वह प्रतिक्षण बदलता रहता है. बौद्धदर्शन केवल गुण और पर्याय अर्थात् अवस्थाओं को मानता है. उनके आधार के रूप में किसी पृथक् सत्ता को नहीं मानता. दूसरी ओर अद्वैत वेदांत आधारभूत सत्ता को वास्तविक मानता है और उसमें दिखाई देने वाले गुण एवं अवस्थाओं को कल्पित. जैनदर्शन दोनों को वास्तविक मानता है. ६ द्रव्य निम्नलिखित हैं.

(१) जीवास्तिकाय (२) पुद्गलास्तिकाय (३) धर्मास्तिकाय (४) अधर्मास्तिकाय (५) आकाशास्तिकाय और (६) काल. अस्तिकाय शब्द का अर्थ है परमाणु, प्रदेश, या अवयवों का एक पिण्ड होकर रहना. जीव, पुद्गलादि में वे एक साथ रहते हैं. किन्तु काल के अंश एक साथ नहीं रह सकते. वहां एक के नष्ट होने पर ही दूसरा अस्तित्व में आता है. इसलिए उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया.

(१) जीवास्तिकाय—जीव का अर्थ है चेतन या आत्मा. जैनदर्शन में इसका स्वरूप अनंत चतुष्टय अर्थात् अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य के रूप में किया जाता है. साथ ही वह अमूर्तिक है अर्थात् उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है. प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्मा है और वह जिस शरीर में प्रवेश करता है उतना ही बड़ा आकार ले लेता है. चींटी के शरीर में चींटी जितना आत्मा है और हाथी के शरीर में हाथी जितना. इस प्रकार उसमें संकोच और विस्तार होते रहते हैं. प्रत्येक जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है अर्थात् वह कार्य करने में स्वतन्त्र है और तदनुसार फल भोगता है. कार्य और फलभोग का स्वाभाविक नियम है. उस पर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियंत्रण नहीं है. उदाहरण के रूप में यदि कोई आंखों पर पट्टी बांध कर कुएं की ओर बढ़ेगा तो उसमें गिर जाएगा. उसे गिराने वाली कोई उच्च सत्ता नहीं है, वह स्वयं अपने आपको गिराता है. साथ ही यह भी निश्चित है कि कार्य करने पर फल अवश्य भोगना होगा. यह कार्य-कारण का स्वाभाविक नियम है. भूल न करने पर यदि हम भोजन करते हैं तो अजीर्ण हो जाता है. पेट दुखने लगता है. इस अजीर्ण और उदरशूल के लिए किसी बाह्य सत्ता को नियामक मानने की आवश्यकता नहीं है. उसके लिये हम स्वयं उत्तरदायी हैं.

सांख्य और वेदांतदर्शन में भी पुरुष अथवा ब्रह्म को चित् स्वरूप माना गया है. किन्तु वहां चेतना का अर्थ शुद्ध चैतन्य है अर्थात् उसमें विषय का भान नहीं रहता. यह भान प्रकृति या माया के कारण होता है. मुक्त अवस्था में वह नहीं रहता. किन्तु जैनदर्शन में ज्ञान और दर्शन अर्थात् निराकार और साकार दोनों प्रकार की चेतना जीव का स्वाभाविक गुण है. इसी को उपयोग कहते हैं. जो जीव का लक्षण माना गया है. अर्थात् बाह्य जगत् को सामान्य तथा विशेष दोनों रूपों में जानना जीव का स्वभाव है और वह मुक्त अवस्था में भी बना रहता है. इसी तथ्य के कारण इन परम्पराओं में कैवल्य शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न हो गया है. सांख्यदर्शन में कैवल्य का अर्थ है प्रकृति के सम्पर्क से रहित शुद्ध चेतना. जैनदर्शन में उसका अर्थ है सर्वज्ञता अर्थात् बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त जगत् की अनुभूति.

(२) पुद्गलास्तिकाय—सांख्यदर्शन में जो स्थान प्रकृति का है वही जैनदर्शन में पुद्गल का है. जीव के संसार में भ्रमण और सुख दुःख भोग का सारा कार्य पुद्गल द्वारा संपादित होता है. किन्तु सांख्यदर्शन के समान यहां इसका विकास बुद्धि के रूप में नहीं होता. जैनदर्शन के अनुसार वह चेतना का गुण है और उसी के समान अनादि तथा अनन्त है. न्यायदर्शन में पृथ्वी आदि चार भूतों के परमाणु भी भिन्न-भिन्न प्रकार के माने गये हैं. जल के परमाणुओं में गंध नहीं होती, अग्नि के परमाणुओं में गंध और रस नहीं होते तथा वायु के परमाणुओं में केवल स्पर्श ही होता है, किन्तु जैनदर्शन पृथ्वी आदि के परमाणुओं में मौलिक भेद नहीं मानता. सभी में रूप, रस, गंध तथा स्पर्श चारों गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हैं. पुद्गल के दो रूप हैं परमाणु और स्कंध अर्थात् अवयवी. दृश्यमान समस्त जगत् पुद्गल परमाणुओं का संघटन या रचना विशेष है. न्यायदर्शन के अनुसार परमाणु में रहने वाले रूप, रस आदि गुण नित्य हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता. स्थूल वस्तु में जब परिवर्तन होता है तो परमाणु ही बदल जाते हैं, उनके गुण नहीं बदलते. घड़ा पकने पर जब मिट्टी अपना रंग छोड़कर नया रंग लेती है तो मिट्टी के रंग वाले परमाणु बिखर जाते हैं और उसका स्थान लाल रंग के परमाणु ले लेते हैं. किन्तु जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता. वहां परमाणु वही रहते हैं किन्तु उनके रूप, रस आदि गुण बदल जाते हैं.

आठ वर्गणायें

जैनदर्शन में पुद्गल का विभाजन आठ वर्गणाओं के रूप में किया गया है. वर्गणा का अर्थ है विभिन्न प्रकार के वर्ग या श्रेणियां. यह विभाजन उनके द्वारा होने वाले स्थूल पदार्थों के आधार पर किया गया है.

(१) **औदारिक वर्गणा**—स्थूल शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु. जैनदर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियों में भी जीव हैं. इनके रूप में प्रतीत होने वाले स्थूल पदार्थ उन जीवों का शरीर है. यह शरीर कहीं सजीव दिखाई देता है और कहीं निर्जीव. इसे औदारिक शरीर माना जाता है. इसी प्रकार पशु-पक्षी तथा मनुष्यों का शरीर भी औदारिक है.

(२) **वैक्रियक वर्गणा**—देवता तथा नारकी जीवों के शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु. योगी अपनी योग-शक्ति के द्वारा जिस शरीर की रचना करते हैं वह भी इन परमाणुओं से बनता है.

(३) **आहारकवर्गणा**—विचारों का संक्रमण करने वाले शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु.

(४) **भाषा वर्गणा**—वाणी के रूप में परिणत होने वाले परमाणु.

(५) **मनोवर्गणा**—मनोभावों के रूप में परिणत होने वाले परमाणु.

(६) **श्वासोच्छ्वास वर्गणा**—प्राणवायु के रूप में परिणत होने वाले परमाणु.

(७) **तैजस वर्गणा**—तैजस नामक सूक्ष्म शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल परमाणु.

(८) **कार्माण वर्गणा**—कार्माण या लिंग शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु. कार्माण शरीर का अर्थ है आत्मा के साथ लगे हुए कर्मपुद्गल. ये ही जीव को विविध योनियों में ले जाकर स्थूल शरीर के साथ संबन्ध जोड़ते हैं और सुख दुःख का भोग कराते हैं. सांख्यदर्शन में जो स्थान लिंग-शरीर का है वही जैनदर्शन में कार्माण शरीर का है और वहाँ जो सूक्ष्म शरीर का है यहाँ वही तैजस शरीर का. मरने पर जीव स्थूल शरीर को छोड़ देता है, तैजस और कार्माण उसके साथ जाते हैं.

आठ वर्गणाओं में से वैक्रियक और आहारक का देवता, नारकी या योगियों के साथ संबन्ध है. शेष ६ हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं.

(३-४) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—धर्म द्रव्य जीव तथा पुद्गल की गति में सहायक है और अधर्म स्थिति में. वर्तमान विज्ञान विद्युत् शक्ति के दो रूप मानता है. धन (Positive) और ऋण (Negative). धर्म और अधर्म वही कार्य करते हैं.

(५-६) आकाशास्तिकाय और काल—आकाश जीव और पुद्गल को स्थान प्रदान करता है और काल उनमें परिवर्तन लाता है. कुछ आचार्यों का मत है कि परिवर्तन जीव और पुद्गल का स्वभाव है, अतः उसके लिए अलग द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है.

वर्त्तमान विज्ञान की दृष्टि से हम इन द्रव्यों को नीचे लिखे अनुसार विभक्त कर सकते हैं :—

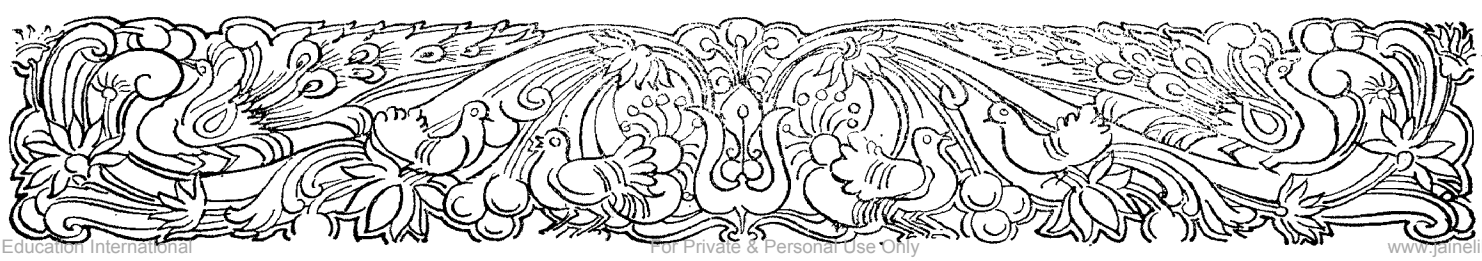

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव (Mind) पुद्गल (Matter) धर्म (positive Energy) अधर्म (Negative Energy) आकाश (Space) काल (Time)

आचार मीमांसा

ऊपर बताया गया था कि जैनधर्म में ७ तत्त्व माने गये हैं. उनमें से प्रथम २ अर्थात् जीव और अजीव विश्व के स्वरूप को बताते हैं. शेष ५ का संबंध आचार अर्थात् आध्यात्मिक विकास के साथ है.

जैन दर्शन भी मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है. इसका अर्थ है आत्मा के स्वरूप का पूर्णविकास. प्रत्येक जीव अपने आप में अनंत चतुष्टय रूप है. अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य उसका स्वभाव है. किन्तु यह स्वभाव बाह्य प्रभाव के कारण दबा हुआ है. इस प्रभाव को कर्म कहते हैं. कर्मों का बन्ध जिन कारणों से होता है उन्हें आश्रव कहते हैं. इस बन्ध का रुक जाना संवर है और संचित कर्मों का नाश निर्जरा है. जैन आचार इन ५ तत्वों पर विकसित हुआ है. अब हम इनका विवेचन करेंगे.

आस्रव—कर्मबन्ध के कारणों को आस्रव कहते हैं. इसके ५ भेद हैं.

(१) **मिथ्यात्व**—विपरीत श्रद्धा. तात्विक दृष्टि से इसका अर्थ है सत्य को छोड़कर असत्य को पकड़े रहना. इसी प्रकार कुदेव कुगुरु या कुधर्म को मानना भी मिथ्यात्व है.

(२) **अविरति**—पाप कर्मों से निवृत्त न होना. पापाचरण न करने पर भी जब तक साधक उससे अलग रहने की प्रतिज्ञा नहीं करता, जब तक मन में डाँवाडोल है तब तक अविरत कहा जाता है.

(३) **प्रमाद**—आलस्य या अकर्मण्यता, जो जीवन में अनुशासन नहीं रहने देती. अंगीकार किए हुए व्रत में किसी प्रकार की भूल-चूक होना भी प्रमाद है.

(४) **कषाय**—क्रोध, मान, माया और लोभ.

(५) **योग**—मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियाँ.

आस्रव का शब्दार्थ है आने का मार्ग. आत्मा अपने आप में शुद्ध है. इन ५ कारणों से कर्म-परमाणुओं का बन्ध होता है और वह मलीन हो जाता है. कर्म एक प्रकार का जड़ पदार्थ है जो आत्मा के साथ मिलकर उसे मलिन कर देता है.

बंध—बन्ध का अर्थ है कर्मों का आत्मा के साथ चिपकना और शुभाशुभ फल देने की शक्ति प्राप्त करना. इसके चार भेद हैं.

(१) **प्रकृति बंध**—आत्मा के साथ जो कर्म-पुद्गल बन्धते हैं वे आठ प्रकार के हैं. उनमें से चार आत्मा के अनंत चतुष्टय को आच्छादित करते हैं. शेष योनि विशेष में जन्म, शारीरिक संगठन, तथा आयु आदि का निर्माण करते हैं. प्रथम प्रकार के कर्म आत्म-गुणों का घात करने के कारण घाति कहे जाते हैं और शेष चार अघाति. घाति कर्म नीचे लिखे अनुसार हैं.

(१) **ज्ञानावरण**—ज्ञान को ढंकने वाला. (२) **दर्शनावरण**—दर्शन को ढंकने वाला. (३) **मोहनीय**—आत्मा को विपरीत दशा में ले जाने वाला. वेदान्त तथा योगदर्शन में अविद्या का तथा बौद्धदर्शन में तृष्णा का जो स्थान है वही जैनदर्शन में मोहनीय कर्म का है. (४) **अंतराय**—आत्मशक्ति को कुंठित करने वाला. ४ अघाति कर्म निम्न प्रकार हैं.

(क) **वेदनीय**—शारीरिक सुख दुःख उत्पन्न करने वाला.

(ख) **नाम कर्म**—उच्च नीच गतियों में ले जाने, शरीर रचना करने एवं अन्य अनुकूल तथा प्रतिकूल सामग्री उपस्थित करने वाला.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ग) **आयुष्य**—विभिन्न गतियों में अल्प या दीर्घ जीवन प्रदान करने वाला.
(घ) **गोत्र**—उच्च या नीच कुल में उत्पन्न करने वाला.

(२) **प्रदेशबंध**—प्रत्येक कर्म के प्रदेश अर्थात् परमाणु.

(३) **स्थितिबंध**—प्रत्येक कर्म की आत्मा के साथ रहने और फल देने की काल मर्यादा.

(४) **अनुभागबंध**—न्यूनाधिक फल देने की शक्ति.

आध्यात्मिक विकास के साथ मुख्य सम्बन्ध मोहनीय का कर्म है. इसके दो भेद हैं. (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय. दर्शन मोहनीय का अर्थ है मिथ्यात्व या दृष्टि का विपरीत होना. चारित्र मोहनीय का अर्थ है क्रोध मान माया और लोभ आदि दुर्बलतायें जो हमारे चारित्र को पनपते नहीं देतीं. उत्कटता की दृष्टि से इसकी चार श्रेणियां हैं, जिन्हें लांघते हुए साधक विकास की उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओं को प्राप्त करता है. प्रथम श्रेणी अनंतानुबंधी है. जिसके मिथ्यात्व मोहनीय तथा इसका उदय रहता है वह श्रद्धा तथा चारित्र दोनों से गिरा हुआ होता है और आध्यात्मिक विकास का अधिकारी नहीं है. दूसरी कोटि अप्रत्याख्यान की है. इसके उदय वाला सम्यग्दृष्टि तो हो सकता है किन्तु आंशिक या पूर्ण किसी भी रूप में व्रत ग्रहण नहीं कर सकता. तीसरी कोटि प्रत्याख्यानावरण है. इसका उदय होने पर पूर्ण या महाव्रतों का पालन नहीं हो सकता. चौथी कोटि संज्वलन है. इसके उदय वाला महाव्रत तो अंगीकार कर सकता है किन्तु सूक्ष्म दोष लगते रहते हैं. इसका नाश होने पर कैवल्य या आत्मा की शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है.

संवर—इसका अर्थ है आस्रव अर्थात् कर्मबंध के कारणों को रोकना. मिथ्यात्व को रोकना अर्थात् सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में विश्वास करना सम्यदर्शन है. तत्वार्थ सूत्र में इसे तत्वार्थश्रद्धान के रूप में बताया गया है. इसका अर्थ है जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित ७ तत्त्व और ६ द्रव्यों में विश्वास. अविरतिरूप आस्रव को रोकने की २ कोटियां हैं. प्रथम कोटि श्रावक की है. वह अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का आंशिक रूप में पालन करता है. इसे देशविरति भी कहा जाता है. दूसरी कोटि सर्वविरति या मुनि की है. वह महाव्रतों का पूर्णतया पालन करता है. इनके पालन के लिए समिति, गुप्ति, परीषहजय, अनुप्रेक्षाएँ आदि अनेक बातों का प्रतिपादन किया गया है. आस्रव के अंतिम तीन द्वारों का निरोध इन्हीं में आ जाता है.

निर्जरा—निर्जरा शब्द का अर्थ है संचित कर्मों का नाश. इसके लिए १२ प्रकार के तप बताये गये हैं. उनमें से ६ बाह्य हैं और ६ आभ्यंतर. बाह्यतप का सम्बन्ध मुख्यतया शारीरिक अनुशासन से है और आभ्यंतर तप का मनोनिग्रह से.
मोक्ष—इसका निरूपण पहले किया जा चुका है.

१४ गुणस्थान—जैनधर्म में आध्यात्मिक उत्थान की भूमिकाओं को १४ गुणस्थानों में विभक्त किया गया है. प्रथम अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान अविकसित अवस्था को प्रकट करता है. द्वितीय से लेकर १२वें तक विकास की विविध अवस्थाओं को, तेरहवां और चौदहवां पूर्णतया विकसित अवस्था को. विकास या उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करने के दो मार्ग हैं. उपशमश्रेणि अर्थात् विकारों को दबाते हुए आगे बढ़ना. वहां दोष संस्कार के रूप में विद्यमान रहते हैं और अवसर पाकर उभर जाते हैं. परिणाम स्वरूप साधक नीचे गिर जाता है. दूसरा मार्ग क्षपक श्रेणि है. इसमें साधक विकारों का नाश करता हुआ आगे बढ़ता है. उसके पतन की संभावना नहीं रहती.

द्वितीय गुणस्थान पतनकाल में प्राप्त होता है. यह मिथ्यात्व प्राप्त करने से पहले की अवस्था है. उस समय संस्कार के रूप में सम्यग्दर्शन का क्षीण प्रभाव बना रहता है. तृतीय गुणस्थान डांवाडोल मन वाले मिश्रदृष्टि जीव का है. जहां कभी सम्यक्त्व की ओर झुकाव होता है और कभी मिथ्यात्व की ओर. योगदर्शन की दृष्टि से प्रथम गुणस्थान को क्षिप्त और मूढ़भूमिका कहा जा सकता है तथा तृतीय गुणस्थान को विक्षिप्त भूमिका चतुर्थ. गुणस्थान सम्यग्दृष्टि जीव का है, जो श्रद्धा ठीक होने पर भी व्रतों को अंगीकार नहीं कर पाता. पांचवां देशविरति श्रावक या गृहस्थ का

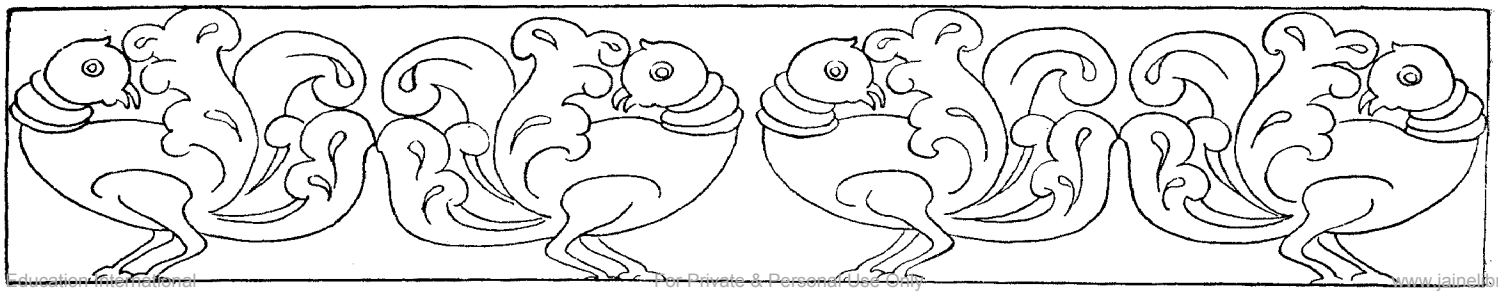

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उनके जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय होता है. छठे से लेकर दसवें तक पांच गुणस्थान निवृत्तिप्रधान मुनि की भूमिकाओं को प्रकट करते हैं, जो कषायों को क्षीण करता हुआ उत्तरोत्तर ऊपर चढ़ता जाता है. ११ वां उपशांत मोहनीय है. वहाँ मोहनीय पूर्णतया दब जाता है किन्तु दूसरे ही क्षण उसका पुनः उभार आता है और साधक नीचे गिरने लगता है. १२ वाँ गुणस्थान क्षीणमोहनीय है, जो मोहनीय कर्म के पूर्णतया क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है. तत्पश्चात् साधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय कर्म का भी क्षय कर डालता है और तेरहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है. उस समय वह वीतराग और सर्वज्ञ कहा जाता है. कषायों का सर्वथा नाश होने पर भी योग अर्थात् मन वचन और काय की हलचल बनी रहती है. चौदहवें गुणस्थान में वह भी रुक जाती है. ५ ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है साधक उतनी ही देर जीवित रहता है और शरीर का परित्याग करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है.

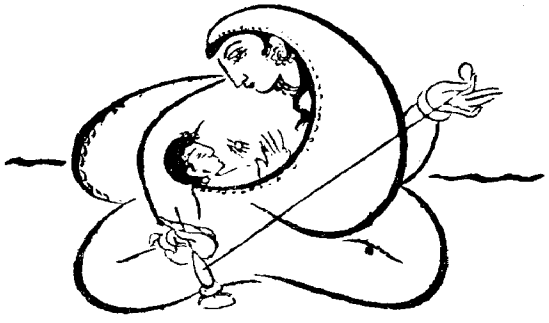

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org